International Journal of Sanskrit Research 2023; 9(5): 45-49

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2023; 9(5): 45-49
© 2023 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 18-07-2023
Accepted: 20-08-2023

डॉ. जितेन्द्र कुमार
संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सैक्टर 1, पंचकूला, हरियाणा, भारत

Corresponding Author:
डॉ. जितेन्द्र कुमार
संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सैक्टर 1, पंचकूला, हरियाणा, भारत

शान्तिपर्व में 'धर्म' का स्वरूपः एक परिशीलन

डॉ. जितेन्द्र कुमार

सारांश
'धर्म' संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– धारण करना। महाभारत के शान्तिपर्व में धर्म को सम्पूर्ण लोकव्यवस्था को धारण करने वाली शक्ति बताया गया है। यह केवल कर्तव्य नहीं, बल्कि करुणा और सह–अस्तित्व का नैसर्गिक नियम है। धर्म का उद्देश्य प्राणियों के कल्याण और उत्कर्ष को सुनिश्चित करना है। इसके नौ प्रमुख लक्षण हैं– अदत्तस्यानुपादान, दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, क्षमा और यज्ञ। धर्म का वास्तविक रूप विचार नहीं, आचरण है।

कूटशब्दः अदत्तस्यानुपादान, दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, क्षमा एवं इज्या

प्रस्तावना
'धर्म' शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है, जिसका अभिप्राय है–धारण करना। महाभारत के शान्तिपर्व में प्रस्तुत 'धर्म' भी इसी मूल आशय की पुष्टि करता है। वहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है– ''धारण क्रिया के कारण ही इसे धर्म कहा गया है। धर्म ही सम्पूर्ण प्रजा को धारण करता है। जो धारण करने में समर्थ है, निःसंदेह वही धर्म है।

धारणाद् धर्म इत्याहु धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।''[1]

यहाँ धर्म को मात्र एक वैयक्तिक आचरण का नियामक न मानकर समष्टि का धारक, सम्पूर्ण लोकव्यवस्था का आधार स्तम्भ कहा गया है। धर्म वह सत्ता है जो प्रजा को, समस्त प्राणिजगत् को, उनके अस्तित्व, विकास एवं कल्याण के पथ पर अविचलित रूप से धारण करती है। इसीलिये शान्तिपर्व में घोषणा की गई है कि प्राणियों के कल्याण एवं उत्कर्ष के निमित्त ही धर्म का सृजन तथा उसका प्रवचन स्वयंभू ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न हुआ। जिसमें अहिंसा नदी की भाँति प्रवाहित हो, वह धर्म का मूर्तिमान स्वरूप है।

प्रभावार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतं।
यत्स्यादहिंसा संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
प्रभवार्थ हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयंभुवा।
तस्मात्प्रवर्धयेद्धर्म प्रजानुग्रहकारणात्।।
तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठ इति स्मृतः।।[2]

शान्तिपर्व इस उद्घोषणा के माध्यम से धर्म को केवल कर्तव्य का नहीं, वरन् करुणा और सह–अस्तित्व के नैसर्गिक नियम का प्रतिरूप मानता है। धर्म के उदय से प्राणियों की चिरकालिक उन्नति सुनिश्चित होती है, और उसके लोप से समस्त लोकव्यवस्था में संकुचन, पराभव व पतन का आरम्भ हो जाता है।

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन्हसति हीयन्ते तस्माद्धर्म प्रवर्धयेत्।। [3]

शान्तिपर्व में धर्म का स्वरूप केवल विचार नहीं, आचरण–मूलक तत्त्व है। इसके अदत्तस्य अनुपादान, दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, क्षमा एवं इज्या – ये नौ गुण हैं।

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः क्षमेज्या धर्मलक्षणम्। [4]

ये गुण धर्म को जीवन की साधना में रूपांतरित करते हैं।

अदत्तस्यानुपादान

अर्थात् जो वस्तु दी न गई हो, उसको स्वीकार न करना। यह केवल चोरी से विरति नहीं, अपितु जीवन में इच्छाओं को सीमित कर आत्मतोष की साधना है।
जो व्यक्ति अनधिकृत संपत्ति की ओर दृष्टि तक न डालें, जो जीवन–निर्वाह के न्यूनतम साधनों में भी तुष्ट रहे– वही आत्मसंयमी, लोभरहित, ज्ञानी कहलाता है। वह, जो बाह्य भोगों में स्पृहारहित रहकर सन्तोष को ही अपने जीवन का आभूषण बना लें, वही वस्तुतः 'धनी' है।

समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मणमभिवर्तते।
नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः।।
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निरातिः।
नास्येन्द्रिमनेकाग्रं नातिक्षिप्तमनोरथः।
अहिंस्रः सर्वभूतानामीदृक्सांख्यो विमुच्यते।। [5]

लोभ और तृष्णा ही बन्धन का कारण हैं। वे ही दुःख के बीज हैं। अतः इनसे विमुक्त होकर ही मनुष्य शान्ति और सुख का अनुभव कर सकता है।
इसका अनुपम उदाहरण शान्तिपर्व के शंखलिखितोपाख्यान [6] में प्राप्त होता है, जहाँ धर्म की धारणा न केवल शब्दों में, अपितु जीवन के व्यवहार में आलोकित होती है।

दान

धर्म का दूसरा स्वरूप है– दान। जो केवल पदार्थ का परित्याग नहीं, अपितु अहंकार की सीमाओं का अतिक्रमण है। शान्तिपर्व में यह कहा गया है कि जो धन पुण्यकर्मों से, न्यायोचित रीति से अर्जित हुआ हो, उसे श्रद्धापूर्वक योग्य पात्र को अर्पित करना ही दान कहलाता है।

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत्।
क्रोधमुत्सृज्य दत्त्वा च नानुतप्येन्न कीर्तयेत्। [7]

विघसाशी अर्थात् वह जो देवता, पितर, अतिथि, कुटुम्ब और आश्रितों को यथोचित अन्न अर्पण कर शेष अन्न ग्रहण करता है, वही आदर्श गृहस्थ है। उसका अन्न सेवन प्रसाद है, न कि भोजन मात्र।

दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनस्य च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः।। [8]

दान के अनेक रूप हैं– द्रव्यदान, अन्नदान, अभयदान। किन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ है– प्राणी जब भयमुक्त हो जाता है, तभी वह जीवन की सम्पूर्णता का अनुभव करता है। इसीलिए अभयदान को समस्त दानों में सर्वोच्च कहा गया है। **यश** की लालसा, प्रत्युपकार की कामना या भयवश दिया गया दान केवल प्रदर्शन है, धर्म नहीं।

दानं भूताभयस्याहुः सर्वदानेभ्यः उत्तमम्।
न दाद्याद्यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे। [9]

दान, जब हृदय के भावस्रोत से दिया जाता है, तो वह तृप्ति का हेतु बनता है। न केवल पाने वाले के लिए, अपितु देने वाले के लिए भी। शान्तिपर्व में कहा गया है कि जो दान कोमल वचनों से समन्वित हो, सम्मानपूर्वक अर्पित हो– वही वास्तव में प्राणियों की तृप्ति का कारण बनता है।[10]
जो दान वेदज्ञ, तपस्वी, स्वाध्यायशील, तथा चरित्रवान् ब्राह्मण को श्रद्धापूर्वक किया जाता है, वह परम प्रशंसनीय है। ऐसा दान न केवल धर्मव्रती को पुष्ट करता है, अपितु दाता के अंतःकरण को भी तपोमय कर देता है। इसके विपरीत, याचना के उपरांत दिया गया दान मध्यम श्रेणी में आता है। क्योंकि वह अनिच्छा से दिया गया है। अश्रद्धा और अवमानना से दिया गया दान अधम श्रेणी का होता है। यह न केवल फलहीन है, बल्कि धर्म के विपरीत भी।

अभिगम्य दत्तं तुष्ट्या यद्धन्यमाहुरभिष्टुतम्।
याचितेन तु यद्दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः।।
अवज्ञया दीयते यत्तथैवाश्रद्धयापि च।
तदाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः।। [11]

फल की दृष्टि से द्विविध दान

दान, फल के प्रकार से द्विविध होता है– ऐहिक एवं पारलौकिक। जो दान साधुजनों को दिया जाता है, वह परलोक में भी पुष्पित होता है और जो दान असत्पुरुषों को दिया जाता है, वह ऐहिक फल प्रदान करता है।

दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रर्थमिहैव च।
सद्भ्यो यद्दीयते किंचित्तत्परत्रोपतिष्ठति।।
असत्सु दीयते यत्तु तद्दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमाप्यते।।[12]

जिस प्रकार भूमि में बीज बोया जाता है। उसी के अनुरूप वह फलित होता है। वैसे ही मनुष्य जैसा दान करता है, वैसा ही फलभोग करता है।
इसलिए केवल 'क्या दिया' यह महत्त्व नहीं रखता, बल्कि 'किसे', 'क्यों' और 'कैसे' दिया, यह महत्त्व रखता है। यह त्रिविध दृष्टि ही दान की गुणवत्ता निर्धारित करती है। चाहे वह द्रव्यदान हो, अन्नदान, या अन्य दान– सब योग्य स्थान, योग्य पुरुष और योग्य रीति से दिए जाने पर श्रेष्ठ माने जाते हैं।
श्रीमद्भगवद्गीता में भी दान का विस्तृत विवेचन मिलता है– जो दान "यह कर्तव्य है" इस भाव से दिया जाता है, जो देश, काल व पात्र के अनुसार और जिससे कोई प्रत्युपकार अपेक्षित न हो – वह सात्त्विक दान है। इसके विपरीत, फल की इच्छा से दिया गया दान राजस कहलाता है, और अश्रद्धा से, अनादर पूर्वक अथवा अपात्र को दिया गया दान तामस की संज्ञा पाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देश काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।[13]

इस प्रकार दान न केवल बाह्य सम्पत्ति का हस्तांतरण है, बल्कि यह आत्मा के आचरण, विवेक एवं श्रद्धा की कसौटी पर खरा उतरने वाला तप है।

अध्ययन

धर्म का तृतीय लक्षण है– अध्ययन। यह केवल पठन नहीं, अपितु आत्मा की आँखों का उद्घाटन है। यह ज्ञान का वह स्रोत है, जिससे तृप्ति की नदी प्रवाहित होती है।
शान्तिपर्व में प्रतिपादित हुआ है– "विद्या के समान कोई नेत्र नहीं न ही कोई तप।"

स्वाध्याये शान्तिरुत्तमा।
विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं बलम्।[14]

विद्या ही वह दीप है जो अज्ञान के अंधकार में पथप्रदर्शक बनती है, वह तप की ज्वाला भी है, और धैर्य की मूर्ति भी।
विद्या, शौर्य, दक्षता, बल एवं धैर्य– ये पाँच आत्मगुण मनुष्य के स्वाभाविक मित्र माने गए हैं। इनके सहारे ही व्यक्ति जीवन की दुरूह यात्रा करने में समर्थ हो पाता है।

विद्या शौर्य च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पंचकम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह यैर्बुधाः।। [15]

जो नित्य नियमबद्ध होकर वेद–वाङ्मय तथा सद्ग्रन्थों का अध्ययन करता है, जो क्षमावान् है, और गुरुसेवा में तत्पर है, वह न केवल सांसारिक संकटों को पार करता है, बल्कि ब्रह्मलोक–सदृश दिव्य फल को भी प्राप्त करता है।

नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते।
वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाथार्चार्य– पूजनम्। तथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत्।[16]

जैसे–जैसे मनुष्य प्रतिदिन शास्त्रों का अध्ययन करता है, वैसे–वैसे उसका ज्ञानवर्धन होता है। उसका मन विशेष तत्त्वों की ओर आकृष्ट होकर दुःख से मुक्ति की दिशा में प्रवृत्त होता है।

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चातिलङ्घनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद्वै नाशमात्मनः।।[17]

इसके प्रतिकूल, वेदवाक्य की अवज्ञा तथा शास्त्र–विधि की उपेक्षा, मानव को असंतुलन की ऐसी स्थिति में पहुँचा देती है, जहाँ धर्म की धुरी ही डगमगाने लगती है और यही सर्वनाश का कारण बनती है।
अतः अध्ययन, केवल शाब्दिक स्मृति का बोझ नहीं, अपितु तत्त्वबोध और तत्संबंधी आचरण की साधना है। वास्तविक अध्ययन वही है जिससे अंतर्बोध जगे, और जीवन को तदनुकूल मोड़ दे।

तप

यद्यपि यज्ञ, दान, दया, वेदाध्ययन और सत्य– ये मानव को पावन करने वाले श्रेष्ठ साधन माने गए हैं, किन्तु इन सबके मध्य, तपस्या रूपिणी साधना को परम पवित्र घोषित किया गया है।

यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते।
पंचेतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः।।[18]

तप वह अनुष्ठान है, जिसमें कामनाओं का क्षय होता है, जहाँ चित्त अग्नि में अहंकार की आहुति दी जाती है।
जिस क्षण जीव शरीर–सुख से विमुख होकर आत्म–साधना में प्रवृत्त होता है, वही क्षण तप का आरंभ होता है। सच्चा तप वही है, जहाँ सर्वत्याग हो– अहंकार का त्याग, ममत्व और कामना का त्याग, यहाँ तक कि स्वयं "त्याग" के फल की कामना का भी त्याग।

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा।। [19]

यही तप की पराकाष्ठा है– जहाँ साधक, साधन और साध्य एक हो जाते हैं।
इस प्रकार तप, केवल लोक और परलोक का साधन नहीं, वह तो मोक्ष का साधन भी है। मनोनिग्रह –जिसे शम कहा गया है, और इन्द्रिय संयम –जिसे दम कहा गया है, इन दोनों की समवेत उपस्थिति ही तप है। यह तप ही आत्मा को परमात्मा के साक्षात्कार की ओर अग्रसर करता है।

अहिंसा

अहिंसा– केवल हिंसा न करने का निष्क्रिय व्रत नहीं, वह तो समस्त प्राणियों के प्रति करुणा और सह–अस्तित्व की भावना है।

आनृशंस्यं परो धर्मो। [20]

जब मनुष्य मन, वचन और कर्म– इन तीनों स्तरों पर किसी भी जीव को पीड़ा देने से स्वयं को विरत कर लेता है।
महर्षि मनु ने अद्रोह, सत्यवचन, संविभाग (विभाजन में समत्व), धृति, क्षमा, सौम्यता, धैर्य– इन गुणों को धर्म का सारतत्त्व कहा है।

अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः सः सतां मतः। [21]

अहिंसा इनमें मूल है। क्योंकि जब प्राणी के भीतर क्रूरता विलीन हो जाती है, तब वह क्षमा, धैर्य और सत्य का वरण कर पाता है।
जो मन, वचन और कर्म से न पाप करता है, न किसी प्राणी को कष्ट देता है, वही इस भवसागर को पार कर, कर्म के बन्धनों से मुक्त होकर, ब्रह्मस्वरूप की अनुभूति करता है।

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो धृतिः क्षमा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
दानं धर्मप्रधानेष्टं मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्। [22]

जिसमें अहिंसा है, उसमें सत्य है। जिसमें सत्य है, उसमें धर्म है। और जिसमें धर्म है, उसमें ही परम शान्ति है।
शान्तिपर्व में कहा गया हैः "वचनबद्ध बाण, शत्रु के तीक्ष्ण बाण से कहीं अधिक मर्मवेधी होते हैं।"[23] इसलिए विवेकी जन को चाहिये कि वह वाणी को संयमित रखे। और यदि कोई अशिष्ट कटुवचन कहे भी, तो वह धैर्य की काव्यात्मक चुप्पी को धारण करे। ऐसा करने से वह न केवल धर्म की रक्षा करता है बल्कि दूसरे के पुण्य का भागी भी बन जाता है।

अहिंसा की सीमाएँ

यद्यपि अहिंसा को धर्म का शिखर कहा गया है, फिर भी शान्तिपर्व में यह स्वीकार किया है कि पूर्ण अहिंसा सांसारिक क्षेत्र में सर्वदा सम्भव नहीं। "आत्मरक्षा, वर्ण–संकर दोष की निवृत्ति, राज्य की रक्षा, अथवा अधर्माचारियों के निवारण हेतु किया गया शस्त्रग्रहण– धर्म ही है, दोष नहीं।"

ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति।
आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्गस्य नियमेषु च।। [24]

यहाँ शस्त्र केवल हिंसा का औजार नहीं, धर्म की मर्यादा का प्रहरी है।

यज्ञ और हिंसा

शान्तिपर्व यह भी उद्घाटित करता है– "यज्ञों के नाम पर की गई हिंसा धर्म की आत्मा को खंडित करती है।" सभी धार्मिक कृत्यों में अहिंसा को ही धर्म की सबसे शुभ और शोभायमान अभिव्यक्ति मानी गई है।

अहिंसैव हि सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता। [25]

इस प्रकार, शान्तिपर्व का 'अहिंसा–चिंतन' न तो केवल नैतिक आदर्शवाद है, और न ही व्यावहारिक कूटनीति– यह तो उन दोनों के मध्य एक गूढ़ सन्धि है, जहाँ धर्म की आत्मा करुणा है, और उसके अस्त्र– विवेक, क्षमा, धैर्य और अनुशासन है।

सत्य
सत्य केवल शब्द नहीं है– वह एक जीवित नैतिक सत्ता है। 'इन्द्रिय–संयम' ही सत्य की प्राणवायु है।

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः।।[26]

जिसके वचनों में संयम नहीं, उसकी वाणी चाहे कितनी भी यथार्थ क्यों न हो, वह अधूरी और असंस्कृत मानी जाती है।
जो प्राणियों के लिये हितकर है, वही वास्तव में सत्य है। और यदि किसी वचन में सत्य तो है, परंतु वह कटु या हिंसक है, तो वह केवल तथ्य है, सत्य नहीं। इसीलिए कहा गया– ''हितकारी वचन, सत्य से भी श्रेष्ठ होते हैं।''

अश्वमेध सहसं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते।।[27]

सत्य के साथ अहिंसा और शील
सत्य बोलना ही पर्याप्त नहीं – बल्कि वह सत्य अहिंसक, निर्दोष, परनिन्दा से रहित होना चाहिए, तभी वह पूर्ण धर्म कहलाता है।

सत्येन धार्यते लोकः स्वर्ग सत्येन गच्छति।।[28]

वाणी में शठता, कठोरता, क्रूरता, पिशुनता (चुगली), और द्वेष का लेशमात्र भी न हो।
''वाणी ही है जो नर को देव बनाती है और यही उसे पतन की ओर ले जाती है।'' वाणी से धर्म प्रकट होता है, परंतु वही वाणी यदि सत्य होते हुए भी हानिकर हो, तो वह धर्म को नष्ट भी कर सकती है।

सत्य का सापेक्ष रूप
शान्तिपर्व में सत्यधर्म को स्थूल नहीं, बल्कि सापेक्ष और विवेकसंगत दृष्टिकोण से देखा गया है। यहाँ कहा गया है– यदि किसी प्राणी की रक्षा का प्रश्न हो, यदि किसी निर्दोष के धन की रक्षा करनी हो, या यदि किसी सामाजिक संस्था (जैसे विवाह) का संरक्षण करना हो, तो वहाँ असत्य भाषण भी धर्मसंगत हो सकता है।

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।[29]

विवाह के अवसर पर प्रायः जो असत्य बोले जाते हैं (जैसे गुण, कुल, संपत्ति की अतिशयोक्ति), वह केवल सामाजिक रूप से स्वीकृत नहीं, बल्कि विवेकहीन और अधर्ममूलक हैं।
यदि कोई अन्याय से किसी का धन हरण करना चाहता हो, तो वहाँ सत्य बोलना– धर्म का घातक रूप हो सकता है। ऐसी स्थिति में मौन रहना या मिथ्या कहना ही कल्याणकारी और धर्मयुक्त होता है। क्योंकि ''सत्य वह नहीं जो केवल कहा जाये, सत्य वह है जो रक्षात्मक, कल्याणकारी और लोकहितकारी हो।''
सत्य–असत्य का निर्णय विवेकपूर्वक करना ही धर्म है। सत्य न तो केवल तथ्यानुरूप बोलना है, और न ही हमेशा कठोर यथार्थ कह देना। विवेकसिद्ध, करुणा–सम्पन्न, अहिंसा–युक्त और कल्याणकारी वाणी, जो मानव और समाज– दोनों के हित में हो वह सत्य है।

अक्रोध
''क्रोध'' वह ज्वाला है जो पहले व्यक्ति के भीतर जलती है, और फिर उसके चारों ओर राख फैला देती है। शान्तिपर्व में इसे केवल मानसिक दोष नहीं, बल्कि योगदोष कहा है

योगदोषान्समुच्छिद्य पंच यान्कवयो विदुः।
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पंचमम्।।[30]

अर्थात् आत्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक, ज्ञान और समाधि की लौ बुझा देने वाला। यहाँ पाँच प्रमुख योगदोष बताए गए हैं– काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न। इनका समूल नाश ही धर्म है।
क्रोध को काम रूपी वृक्ष का महान् स्कन्ध (शाखा) कहा गया है।[31] यह वृक्ष हृदय की भूमि में उगता है, जहाँ मोह बीज बनकर बोया जाता है। फिर जड़ें जमती हैं– अज्ञान के रूप में, तना बनता है काम रूप में, और शाखाएँ फैलती हैं क्रोध व अभिमान के रूप में।

लोभात्क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते।
क्षमया तिष्ठते राजंश्रीमांश्च विनिवर्तते।।[32]

इस वृक्ष की छाया में शांति नहीं, केवल अंधकार, भ्रम और दुर्भाग्य पलते हैं।
क्रोध तब बढ़ता है जब मनुष्य बारंबार दूसरों के दोष देखता है, जब वह अपने भीतर झाँकने के बजाय दूसरों की गलतियों को देखने लगता है। यह तभी शांत होता है जब वह क्षमाशील बनता है।[33] ''क्षमा ही वह अमृतरस है जो क्रोध की आग पर वर्षा बनकर गिरता है।''

अक्रोधः आत्मसंयमी का दिव्य गुण
जो व्यक्ति अपमान का प्रतिकार नहीं करता, सेवकों पर क्रुद्ध नहीं होता, निंदा सहकर भी मौन रह जाता है, वही संसार–रूपिणी दुस्तर नदी को पार करता है। ऐसा व्यक्ति न केवल शुद्धचित्त होता है, बल्कि दूसरों को भी शांत करने की शक्ति रखता है। यह योग का श्रेष्ठ साधक और समाज का सच्चा साधु होता है।
क्रोध कोई अकेला दोष नहीं है, यह एक संकुल (cluster) है। जहाँ काम और लोभ उसकी भूमिका बनाते हैं, मोह उसका तर्क बनता है, और अभिमान उसका ईंधन। इन सबका नियंत्रण अक्रोध से ही सम्भव है, क्योंकि अक्रोध केवल न क्रोधित होना नहीं, बल्कि भीतर की प्रतिक्रियाओं को शुद्ध कर देना है।
अक्रोध वह मौन शक्ति है जो मनुष्य को विवेकशील, शांत, और सच्चे अर्थ में साधक बनाती है। जो व्यक्ति क्रोध नहीं करता, वह न केवल स्वयं मुक्त होता है, बल्कि अपने स्पर्श से दूसरों को भी मुक्ति देता है। अक्रोध कोई 'कमजोरी' नहीं, वह तो बुद्धत्व की शक्ति है– जो शांत रहकर भी संसार को बदलने की क्षमता रखती है।

क्षमा
दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह और शम– ये केवल नैतिक गुण नहीं, बल्कि ये आत्मा के स्वर्ण दीपक हैं, जो मानव को महामानव बनाते हैं।

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम्।
अदोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा।।
पन्थानो ब्रह्मणहत्येते एतैः प्राप्नोति यत्परम्।[34]

क्षमा न तो कायरता है, न ही विवशता– यह तो विवेक और आत्मबल का उत्तुंग रूप है।
जब कोई व्यक्ति अपमानित होता है, पीड़ित होता है, अन्याय का शिकार होता है और फिर भी यदि वह प्रतिशोध के स्थान पर क्षमा करता है, तो वह केवल एक व्यक्ति नहीं रहता, वह धर्म का मूर्तिमान रूप बन जाता है। शान्तिपर्व में कहा गया है – ''जो आघात सहकर भी क्षमा कर दे, वही आचरण श्रेष्ठ है।''[35]

दया और क्षमा
दया को परम धर्म कहा गया है, और क्षमा को परम बल। जहाँ हिंसा तात्कालिक विजय दिला सकती है, वही क्षमा दीर्घकालिक सम्मान अर्जित करती है। और इस गुण की नींव है– इन्द्रिय–निग्रह। ''जिसने अपने भीतर की आग को शांत करना सीख लिया, वही दूसरों के लिये शीतल छाया बन सकता है।

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्। [36]

शासक और क्षमा

यद्यपि शान्तिपर्व क्षमा को महागुण कहता है, फिर भी यह स्पष्ट करता है कि हर स्थिति में क्षमा उचित नहीं। यदि कोई व्यक्ति धर्म की मर्यादा भंग करता है, या समाज में अन्याय का पोषक बनता है, तो वहाँ क्षमा नहीं, दण्ड धर्म है।

उदाहरण के लिए यदि राजा का अपना पुत्र अपराध करे, तो भी उसे दण्ड देना धर्म है, क्योंकि धर्म का पक्षपात ही अधर्म होता है।[37] ''धर्म, प्रेम और विवेक – इन तीनों के समन्वय से क्षमा धर्म बनती है, अन्यथा वह या तो कायरता बन जाती है या अन्याय का कवच।'' क्षमा वह शांति है, जिसमें युद्ध नहीं होता, फिर भी विजय का भाव रहता है। यह धर्म का सबसे मधुर रस है, जिसे केवल सबल, सहिष्णु और विवेकी हृदय ही धारण कर सकता है।

इज्या (यज्ञ)

''यज्ञ'' शब्द केवल अग्निहोत्र का वाचक नहीं है, यह उस महान् आहुति का द्योतक है जिसमें मानव अपनी इन्द्रियों, इच्छाओं और अहंकार को स्वाहा कर देता है। शान्तिपर्व का यज्ञ वैदिक यज्ञ से भिन्न होकर अन्तःकरण की अग्नि में प्रवेश करता है।

यहाँ यज्ञ का स्वरूप केवल अश्वमेध या राजसूय तक सीमित नहीं। बल्कि स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान, उपनिषद्–विचार, तप और सेवा तक यज्ञ का विस्तार है।[38]

शान्तिपर्व हमें सिखाता है कि हर मनुष्य का जीवन–धर्म उसका यज्ञ है। क्षत्रिय का यज्ञ धर्मयुक्त युद्ध है। वैश्य का यज्ञ हवि और उदार व्यापार है। शूद्र का यज्ञ सेवा में समर्पण है। ब्राह्मण का यज्ञ तप, स्वाध्याय, उपदेश है।

जो अपने मन, प्राण और इन्द्रियाँ को आत्मा में अर्पित कर देता है, वही ''आत्मयाजी'' होता है।[39] यह आत्मयाजी, हवनकुंड नहीं जलाता, बल्कि अहंकार को स्वाहा करता है। वह अग्नि बाहर नहीं, भीतर प्रज्वलित होती है।

यज्ञ में शक्ति, विधि, धन नहीं, श्रद्धा और निष्कपटता ही आवश्यक है। ''असूया रहित होकर, श्रद्धावान होकर, अपनी शक्ति व साधन के अनुसार किया गया यज्ञ ही फलदायक है।''

स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे।
अथापरे महायज्ञान्मनसैव वितन्वते।।
तस्मात्पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे।। [40]

श्रद्धा के बिना यज्ञ केवल धुआँ है, जो न आलोक देता है, न उष्णता।

शान्तिपर्व का यज्ञ हमें सिखाता है कि ''यज्ञ अग्नि में नहीं, आत्मा के भीतर किया जाना चाहिये।'' यह यज्ञ त्याग का नाम है, यह कर्तव्य का रूप है, यह श्रद्धा का उत्सव है, और यह ब्रह्म की ओर ले जाने वाली अग्निपंक्ति है।

अतो हि सर्ववर्णानां श्रद्धायज्ञो विधीयते।
दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत्।
तस्मात्सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते।। [41]

जो तत्त्व समस्त सृष्टि को धारण करे, जिसमें सम्पूर्ण प्रजा, समस्त प्राणिजगत् एवं प्रकृति का संतुलन सुरक्षित रहे, वही धर्म है। यह कर्तव्य और अकर्तव्य की विभाजक रेखा बनकर नीति और न्याय का मानक स्थापित करता है। [42] ज्ञान जीवन की धुरी बने– यही उसका परम उद्देश्य है।

सन्दर्भ सूची

1. शान्ति० 110.11
2. शान्ति० 91.16–17
3. शान्ति०. 61.14
4. वही. 37.7
5. शान्ति० 228.35–3
6. शान्ति०, 24.4–10
7. वही. 297.13
8. वही 11.24
9. शान्ति०185.4, 254.33
10. शान्ति०, 85.7
11. शान्ति०, 282.18,16
12. वही, 184.3,4
13. गीता. 17.20–22
14. शान्ति० 184.2 वही, 166.33
15. वही. 137.81
16. वही. 111.4 वही, 66.10
17. वही, 81.10 वही. 80.18
18. वही, 148.6
19. वही, 263.24
20. वही 220.109
21. वही, 21.10
22. वही, 21.11.12
23. शान्ति०, 288.9–10
24. वही, 79.33
25. वही, 257.6
26. वही 156.4 वही, 110.4,156.
27. वही,156.26
28. वही, 156.5
29. शान्ति०, 183.1
30. शान्ति०, 156.10
31. वही, 232.4
32. वही, 246.1,2 मि०, गीता, 2.62,63
33. शान्ति० 157.7
34. शान्ति०, 112.20
35. शान्ति०, 262.37,38
36. वही, 288.12
37. वही, 316.12
38. वही, अ०,154
39. वही, 8.34,36. 12,25
40. वही, 12.26, 25.7
41. वही, 12.23 वही, 20.5
42. वही, 60.39 वही, 660.143
43. वही.61.15
44. महाभारत, शान्तिपर्व– भाग राजधर्म, सम्पादक वीएस सुकंथकर, भण्डारकर रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना
45. महाभारत, (पंचम खण्ड) शान्ति पर्व, गीता प्रेस, गोरखपुर
46. महाभारत, शान्ति पर्व, भाग 1 सम्पा. दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी